

गुणस्थान-आत्मोत्थान के सोपान

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'कमल'

आरोह की ओर

आत्मा ही परमात्मा बनती है। परमात्मा की विशिष्ट रूप में कोई पृथक् सत्ता नहीं है। आत्मा निखर कर ही जब अपने स्वरूप में पहुँच जाती है तो वह परमात्मा कहलाती है। तब फिर इस परमात्मा का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। सदा के लिए वह संसार से मुक्त हो जाता है। जितनी भी आत्माएं सिद्ध-शिला पर मिलती है, वे ज्योति में ज्योति के समान एकाकार हैं।

इसे ही आत्मा-विकास का सर्वोच्च सोपान माना गया है। जिस तक पहुँचने के लिए कई सोपान पार करने पड़ते हैं। आत्म-परिष्कार की उत्कृष्टता के साथ-साथ गतिक्रम आरोह की ओर बढ़ता है। किस समय आत्म-शुद्धि का क्या स्तर है, उसकी कसौटी गुणस्थान के रूप में निर्धारित है। संक्षेपतः आत्मोत्थान के मान-स्थान बताने वाले गुणस्थान होते हैं।

समग्र कर्म-मुक्ति

मूल स्वरूप में तो संसारी एवं सिद्ध आत्माओं में कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर है वह दोनों के वर्तमान स्वरूप में है। वह कर्मों की श्लिष्टता या संपृक्ति का है। जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्त का निचोड़ यह है कि आत्मा का अजीव तत्त्व के साथ संयोग तथा उसका संसार में परिभ्रमण कर्म-संलग्नता के कारण होता है। शरीर के साथ सम्बन्ध होने के बाद आत्मा की जिस रूप में शुभ अथवा अशुभ परिणति होती है, तदनुसार उसके शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बंध होता है। इस तरह बंधे हुए कर्म भोगने पड़ते हैं तथा निरन्तर सक्रियता के कारण नये कर्म भी बंधते रहते हैं। इस कर्म बंध को जहाँ एक ओर संयती जीवन के माध्यम से संवरित किया जा सकता है वहीं दूसरी ओर निर्जरा के रूप में उनका उपशम एवं क्षय भी सम्भव है।

जब कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर लिया जाता है तब आत्मा को मोक्ष को उपलब्धि होती है। इस मोक्ष को हम कर्म-मुक्ति या आत्म-विकास का, आत्मोत्थान का सर्वोच्च सोपान कहते हैं, जो आत्मा को परमात्मा बनाता है।

इस दृष्टि से वर्तमान आत्म-स्थिति सांसारिकता है। अन्य शब्दों में—कर्म संलीनता, उसकी इस हेतु विकास दिशा, यही है कि वह कर्म-मुक्ति की ओर पग उठाए और समग्र कर्ममुक्ति पर्यन्त सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की आराधना में निमग्न रहे।

दो छोर-बंध और मोक्ष

जब तक कर्म बंध का क्रम चालू रहेगा तब तक आत्मा संसारी-आत्मा रहेगी एवं समग्र कर्म-मुक्ति के बाद वह सिद्ध बन जायगी। अतः आत्म विकास के रूप में जो पुरुषार्थ करना है—जो पराक्रम दिखाना है, उसका अर्थ कर्म-मुक्ति की दिशा में ही कर्मठ और पराक्रमी बनना है। इस विकास पथ का एक छोर कर्म बंध का है और दूसरा अन्तिम छोर है कर्म-मुक्ति।

आओ! आत्मा के मूल स्वरूप एवं कर्म-बंध तथा कर्म-मुक्ति के दोनों छोरों को भली-भाँति समझने के लिए एक दृष्टान्त का आश्रय लें। एक नया दर्पण है—बहुत स्वच्छ है। इसमें देखें तो आकृति एकदम हूबहू दिखाई देगी। फिर वह उपयोग में आने लगता है, उस पर धूल-मिट्टी या चिकट जमने लगती है। कभी बंद मकान में पड़ा रहता है और धूल-मिट्टी की इतनी पतें जम जाती हैं कि उसमें प्रतिच्छाया तक दिखना बंद हो जाती है। इस तरह वह दर्पण अपने अर्थ में दर्पण ही नहीं रह जाता। उसी प्रकार आत्मा अनादि काल से इस संसार में भ्रमण कर रही है। इसके स्वरूप पर उस दर्पण की तरह कर्मों का मेल लगता जा रहा

है। अज्ञान एवं विकार की दशा में इस गर्त की पतें मोटी-से-मोटी चढ़ती जाती हैं और वे क्रमशः इतनी मोटी हो सकती हैं कि आत्मा की गुणों के ओर, उसकी शक्तियों की झलक तक दिखना बंद हो जाती है। आत्मा की इस स्थिति को हम उसकी पतितावस्था कह सकते हैं।

किन्तु इस दृश्यहीन दर्पण को भी हम स्वभावहीन नहीं मान सकते क्योंकि उसका दृश्यत्व नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि वह दब गया है। यदि पूरे मनोयोग और परिश्रम से उसे साफ करने का यत्न किया तो वह फिर से यथापूर्वक साफ हो सकता है, प्रतिबिम्ब उसमें फिर से वैसा-का-वैसा दिखाई दे सकता है। सही ज्ञान, सही आस्था, एवं सही आचरण की सहायता से इस संसारी आत्मा पर लगे कर्म-मेल को धोने का कठिन प्रयास भी किया जाय तो भावना एवं साधना की उत्कृष्टता से आत्मा को उसके मूल-स्वरूप में उसे अवस्थित कर सकते हैं—पूर्ण निर्मल, पूर्ण सशक्त।

इसी के साथ इस तरह कर्म-मुक्ति के अंतिम छोर की उपलब्धि हो जाती है।

कर्म सिद्धान्त और गुणस्थान

जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त मनुष्य को ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व अथवा भाग्यवाद के भ्रम से मुक्त करता है और उसे अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होने का विश्वास दिलाता है। हम आज जो कुछ भी भुगत रहे हैं अच्छा या बुरा, निःसंदेह उसकी जड़ें भूतकाल में हैं, जिन्हें हमने कभी रोपा है। अर्थ स्पष्ट है कि मनुष्य या कोई भी प्राणी स्वयं अपने भाग्य का निर्माता तथा अपने कर्म भोग के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है। जैसा कर्म वैसा फल, यह है कर्मवाद। पाप कर्म आत्मा को डूबोता है, पुण्य उसे तिराता है। किन्तु पुण्य कर्म को भी नाव के समान छोड़ने पर ही दूसरे किनारे पर पांव रखा जा सकता है। सभी प्रकार के कर्म क्षय के बाद ही मोक्ष का दूसरा तट हाथ लगता है।

संसार के महोदधि में कौनसी आत्मा कितनी गहरी डूबी हुई है या कौनसी किस ओर तैर रही है अथवा कौनसी कब किनारे लग जाएगी। इसकी जो मापक दृष्टि है, वही गुण-स्थान दृष्टि है। आत्मा का गुण है उसका मूल स्वरूप। इसी की सम्पूर्ण उपलब्धि की दृष्टि से आत्मा के विकास सोपान का निर्णय गुण-स्थान की दृष्टि से ही सम्भव होता है।

आत्मोत्थान के १४ सोपान

मोह और योग के निमित्त से सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, एवं सम्यक् चारित्र्य रूप आत्मा के गुणों की तारतम्यता हीना-धिकता रूप अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते हैं। अन्य शब्दों में—मोह, मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अंतरंग परिणामों में प्रतिक्षण जो उतार-चढ़ाव होता है उसे गुण-स्थान कहते हैं। गुणस्थान के इस रूप में चौदह सोपान कहे गए हैं—१. मिथ्यात्व, २. सास्वादन, ३. मिश्र, ४. अविरति सम्यक्

दृष्टि, ५. देश विरति श्रावक, ६. प्रमत्त संयत, ७. अप्रमत्त संयत, ८. निवृत्ति बादर, ९. अनिवृत्ति बादर, १०. सूक्ष्म सापराय, ११. उपशान्त मोहनीय, १२. क्षीण मोहनीय, १३. सयोगी केवली एवं १४. अयोगी केवली।

आत्मा का मूल स्वरूप शुद्ध चेतनामय शक्ति संपन्न तथा आनन्दपूर्ण होता है। कर्मों के आवरण दर्पण की धूलि-पतों की भाँति उस स्वरूप को ढंक देते हैं। इन आठ कर्मों के आवरणों में सबसे अधिक सघन आवरण होता है मोहनीय का। इसे सब कर्मों का राजा कहा गया है। मोह आत्म-भावों में जब तक बलवान रहता है, दूसरे कर्मों के आवरण कठिन बने रहते हैं और यदि इस मोह दुर्ग की प्राचीरें तोड़ी जा सकें तो अन्य कर्म सूखे पत्तों की तरह स्वयं झड़ने लगते हैं।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं—१. आत्मा के दर्शन को अवरुद्ध बनाती है। उसके स्वरूपानुभव को कुण्ठित करती है। २. यदि स्वरूपानुभव कदाच कुण्ठित न हो जाय तो भी उसे कर्म क्षय कराने वाली प्रवृत्तियों में जुटने नहीं देती। स्वरूप के यथार्थ दर्शन तथा उसमें स्थित होने के प्रयास रुद्ध करने वाली शक्तियाँ मोह कर्म की होती हैं। इन्हें दर्शन मोह एवं चारित्र्य मोह की संज्ञा दी गई है।

आत्मा की विभिन्न स्वरूप स्थितियाँ इसी मोहनीय के हिंडोले में झूलते हुए बनती हैं। आत्मा का पतन और उत्थान, पतन से उत्थान और उत्थान से पतन पुनः इसी हिंडोले में होता है। जो आत्मा इन गुणस्थानों की स्थिति को समझ कर अपने मनो भावों आदि में आवश्यक संतुलन एवं स्थिरता अर्जित कर लेती है वह क्रमशः ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ती रहती है तथा अपनी साधना की अन्तिम परिणति मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

आत्म-शक्तियों का आरोह-अवरोह

अविकसित तथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान में होती है। इसमें मोह की दोनों शक्तियों का जोर बना रहता है और वे दृढ़ता से आत्म स्वरूप को आच्छादित कर लेती हैं। इस अवस्था में आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति लगभग पतित-सी होती है और कैसा भी आधिभौतिक उत्कर्ष के होने पर भी उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से पूर्णतः शून्य ही बनी रहती है। ऐसी आत्मा की मति दिग्भ्रान्त होती है तथा वह विपरीत प्रवृत्ति में यात्रा करती रहती है। यही मिथ्या-दर्शन है। मिथ्यात्व नाम जड़ता का है, उस जड़ता का जिसमें मोह का प्रभाव प्रगाढ़तम होता है।

जैसे ही अपनी विकास यात्रा के आरम्भ में आत्मा दर्शन मोह पर यथापेक्षित विजय प्राप्त करती है, वैसे ही वह प्रथम से द्वितीय गुणस्थान में प्रवेश कर लेती है। इस समय पर-स्वरूप में स्वरूप की जो भ्रान्ति होती है, वह दूर हो जाती है। जड़ रूप मिथ्यात्व से सास्वादन गुणस्थान चेतना की ज्योति प्रज्वलित कर देता है।

दूसरे गुणस्थान के प्रभाव से विपरीत प्रवृत्ति भी विकासोन्मुख बनने लगती है। तीसरा गुणस्थान पहले और दूसरे गुणस्थान का मिश्र रूप होता है कभी दर्शन मोह मंद पड़ जाता है, कभी वह फिर सशक्त हो उठता है। तीसरे गुणस्थान में यह धूप-छांही चलती है।

जब परमात्म स्वरूप को आत्मा देखने और समझने लगती है तो वह चौथे सम्यक् दृष्टि गुणस्थान में बैठती है। यहाँ उसकी दृष्टि में सम्यक् घिरता है, किन्तु व्रताचरण की प्रवृत्ति बदलती नहीं है—अविरति स्थिति बनी रहती है। चौथे गुणस्थानों से आगे के समस्त गुणस्थानों की दृष्टि सम्यक् मानी जानी चाहिए कारण आगे के गुणस्थानों में उत्तरोत्तर विकास, दृष्टि-शुद्धि और व्रतों की क्रियाशीलता के फलस्वरूप परिपुष्ट बनती चलती है।

मोह की प्रधान शक्ति दर्शन-मोह के मंद होने से व चारित्र्य-मोह के शिथिल होने से पाँचवें गुणस्थान की अवस्था प्रारम्भ होती है और आत्मा अविरति-स्थिति से देश-विरति की स्थिति में प्रस्थान करती है। यहाँ मोह की उभय शक्तियों के विरुद्ध एक उत्क्रान्ति घटित हो जाती है।

देश विरति से आत्मा को अपने भीतर स्फुरता एवं शान्ति की सच्ची अनुभूति होती है। यहाँ इस अनुभूति को विस्तृत-विशद बनाना चाहती है और सर्वविरति के छोटे गुणस्थान के सोपान पर पग रख देती है। यह सीढ़ी जड़ भावों के सर्वथा परिहार की सीढ़ी होती है। इस अवस्था में पौद्गलिक भावों पर मूर्छा समाप्त हो जाती है तथा संयमसाधना में गहरी निष्ठा उत्पन्न हो जाती है। फिर भी इस सोपान पर प्रमाद का कमोबेश प्रभाव बना रहता है।

प्रमाद पर विजय पाने का सातवां गुणस्थान होता है—अप्रमादी साधु का। विशिष्ट आत्मिक शान्ति की अनुभूति के साथ विकासोन्मुखी आत्मा प्रमाद से जूझने में जुट जाती है। इस अद्वितीय संघर्ष में आत्मा का गुणस्थान कभी छोटे और कभी सातवें में ऊँचा-नीचा रहता है।

विकासोन्मुख आत्मा जब अपने विशिष्ट चरित्र बल को प्रकट करती है तथा प्रमाद को सर्वथा पराभूत कर लेती है तब वह आठवें गुणस्थान की भूमिका में पहुँच जाती है। पहले कभी नहीं हुई, ऐसी आत्म-शुद्धि इस निवृत्ति-बादर गुणस्थान में होती है। आत्मा मोह के संस्कारों को अपनी संयम-साधना एवं भावना के बल से दबाती है, और अपने पुरुषार्थ को प्रकट करती हुई उन्हें बिल्कुल उपशान्त कर देती है। दूसरी आत्मा ऐसी भी होती है, जो मोह के संस्कारों को जड़मूल से उखाड़नी चलती है तथा अन्ततोगत्वा सारे संस्कारों को सर्वदा निर्मूल कर देती है। इस प्रकार इस गुणस्थान में आत्म-शक्ति के स्वरूप स्थिति दो श्रेणियों में विभक्त हो जाती है। आत्म-शक्तियों की ऊँची-नीची गति इन्हीं श्रेणियों का परिणाम होता है। मोह के संस्कारों को उपशान्त करने वाली आत्मा कभी-कभी इस गुणस्थान से तल

तक पतित हो जाती है। ठीक जैसे अंगारे राख से ढंके हुए हो और हवा के एक तेज झोंके से सारी राख उड़ जाती है और अंगारे धगधग करने लगते हैं। पहली श्रेणी में ऐसी दुर्दशा सम्भव हो सकती है किन्तु दूसरी श्रेणी में प्रविष्ट आत्मा को ऐसे किसी अधःपतन की आशंका नहीं रहती।

चाहे पहली श्रेणी वाली आत्मा हो या दूसरी, वह अपनी उत्कृष्टता से एक बार नवां दसवां गुणस्थान प्राप्त करती ही है। फिर ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाली आत्मा एक बार अवश्य पतित हो जाती है। इस श्रेणी की आत्मा मोह को निर्मूल बना कर सीधे दसवें से बारहवें गुणस्थान में प्रवेश कर जाती है।

जैसे ग्यारहवां गुणस्थान पुनरावृत्ति का है, वैसे ही बारहवां गुणस्थान अपुनरावृत्ति का है। ग्यारहवें गुणस्थान में प्रवेश करने वाली आत्मा का अधःपतन होता ही है, लेकिन उसको लांघकर बारहवें में प्रवेश कर जाने वाली आत्मा का परम उत्कर्ष असंदिग्ध हो जाता है।

उपशम श्रेणी में पतन की आशंका रहती है तो क्षपक श्रेणी में उत्थान का अपरिमित विश्वास। इस दृष्टि से मोह का सर्वथा क्षय सर्वोच्च आत्म-विकास का पट्टा होता है। तेरहवें और चउदवें गुणस्थानों की भेद रेखा अति सूक्ष्म है, जिसे पार कर लेने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेती है तथा परमात्म स्वरूप बन जाती है।

मोह का आक्रमण-प्रत्याक्रमण

मोहनीय भावों में आत्मा जब तक पूर्णतया संलीन डूबी रहती है तब तक वह मिथ्यात्व के अंधकार में भटकती रहती है और उसकी स्थिति पहले गुणस्थान में होती है। इस अवस्था में जब कभी किसी कारणवश दर्शन मोह के भावों में कुछ शिथिलता आती है तो आत्मा की विचारणा जड़ से चेतन की ओर मुड़ती है। चेतन की ओर मुड़ने का अर्थ है पर-स्वरूप से हट कर स्व-स्वरूप की ओर दृष्टि का फैलाव है। चेतन तत्त्व अर्थात् निज स्वरूप की ओर दृष्टि जाने से उसे एक अभिनव रसास्वाद की आन्तरिक अनुभूति होती है जिससे मिथ्यात्व की ग्रंथी खटकने लगती है। इस समय आत्म-क्षेत्र रणभूमि बन जाता है। एक ओर मोह के संस्कार उनसे उभरने की निष्ठा बनाने वाली आत्म-शक्ति पर आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते हैं तो दूसरी ओर जागरूकता की ओर बढ़ने वाली आत्म-शक्तियाँ उन आक्रमण-प्रत्याक्रमणों को झेलती हैं। इस युद्ध में आत्म-शक्तियाँ यदि विजयी होती हैं तो वे आत्मा को प्रथम गुणस्थान से तृतीय और चतुर्थ में पहुँचा देती हैं। किन्तु यदि मोह के संस्कारों की प्रबलता बनी रहती है तो ऊपर की भूमिकाओं से लुढ़क कर वह पुनः मिथ्या-दृष्टित्व की खाई में गिर जाती है। इस पतन में आत्मा की जो अवस्था रहती है, वह दूसरा गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में पहले की अपेक्षा आत्म-शुद्धि अधिक होती है, लेकिन यह दूसरा गुणस्थान उत्क्रान्ति का स्थान नहीं होता।

उत्क्रान्ति करने वाली आत्मा पहले से सीधे तीसरे गुण-स्थान में जा सकती है और अवक्रान्ति करने वाली आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से गिर कर दूसरे-तीसरे गुणस्थान में पहुँच सकती है। मोह भावों का अंतिम आक्रमण-प्रत्याक्रमण नवें, दसवें, गुणस्थानों की प्राप्ति के समय होता है। जहाँ समस्त मोह संस्कारों का संपूर्ण क्षय कर लेने वाली आत्मा दसवें से बारहवें गुणस्थान में छलांग लगा देती है और वहाँ से अपने चरम लक्ष्य की उपलब्धि असंदिग्ध कर लेती है। इसके विपरीत मोह संस्कारों का शमन मात्र करने वाली आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान में प्रवेश करे ही, यह आवश्यक नहीं है, वह भी अपनी उत्कृष्टता से बारहवें गुण-स्थान में पहुँच सकती है, परन्तु जो आत्मा एक बार ग्यारहवें गुणस्थान में चली जाती है, उसका पुनः पतन निश्चित रूप से होता है।

दर्शन एवं चारित्र्य मोहनीय कर्म की प्रभावशीलता अथवा प्रभावहीनता के आधार पर ही, आत्मा की अवक्रान्ति अथवा उत्क्रान्ति निर्भर रहती है।

मोह संस्कारों का समूल क्षय

सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र्य की एकाग्र साधना को मोक्ष-मार्ग कहा है। कर्म-मुक्ति है, मोक्ष है। कर्मों में सर्वाधिक शक्तिशाली मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिये अपने ज्ञान और अपनी निष्ठा को सम्यक्त्व की भूमिका पर लाने की जरूरत पड़ती है।

ज्ञान और आस्था के सम्यक् बन जाने पर सदृष्टि का विकास होता है। सदृष्टि वह है जो जड़ को जड़ और चेतन को चेतन तद्रूप स्पष्ट झलकाती है। इसके माध्यम से आत्मा अपने मूल स्वरूप को पहिचान कर परमात्म स्वरूप का दर्शन करती है।

जैसे दर्शन मोह के मन्द होने पर सदृष्टि का विकास होता है, वैसे ही चारित्र्य मोह के मन्द होने पर व्रतनिष्ठा का जन्म एवं विकास होता है। दृष्टि सम्यक् होती है तो सम्यक् चारित्र्य की आराधना का क्रम भी प्रखर बनता है। एक छोटे से व्रत को लेकर महान साधुव्रत का परिपालन करते हुए आत्मा जब रत्नत्रय की उपासना में सुस्थिर बन जाती है तब वैसी विकासशील आत्मा मोह के संस्कारों का समूल क्षय करती है। उपशम की अपेक्षा क्षय की दिशा में पग बढ़ाना महत्वपूर्ण होता है, इसीलिये ऐसी आत्मा एक दिन अपना पूर्ण उद्धार कर लेती है। जिसे परमात्म स्वरूप का वह दर्शन करती है उसी परमात्म स्वरूप का वह वरण भी कर लेती है। तब आत्मा सदा सर्वदा के लिये अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाती है।

एक ही तालाब का जल गौ और साँप दोनों पीते हैं, परन्तु गौ में वह दूध और साँप में विष हो जाता है; इसी प्रकार शास्त्रों का उपदेश भी सुपात्र में जाकर अमृत और अपात्र या कुपात्र में जाकर विष-रूप परिणमन करता है।

—राजेन्द्र सूरि

अरिहंत पद

जो अपने आत्म-शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं, उसे “अरिहंत” कहते हैं। अरिहंत एवं सिद्ध अवस्थाओं में शरीर-त्याग के सिवा अधिक अन्तर नहीं होता। किन्तु मिथ्या-दृष्टि से ले कर आत्मा अपने ही विकारों के साथ युद्ध करती अपनी सद्भावना एवं निष्ठा के बल पर कर्म-शत्रुओं को नष्ट करती, इस आध्यात्मिक युद्ध में आत्मा विकास के सोपान स्वरूप इन गुणस्थानों पर क्रमशः चढ़ती रहती है।

संघर्ष को विकास का मूल कहा गया है। आध्यात्मिक संघर्ष में आत्मा की निर्मलता की अभिवृद्धि होती है। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वन्द्विता में भी साधारण संघर्ष के समान तीन अवस्थाएँ होती हैं—पहले कभी हार कर आत्मा पीछे गिरती है, दूसरी अवस्था में प्रतिस्पर्धा में डटी रहती है तथा तीसरी अवस्था में विजय को वरण करती है।

इस आध्यात्मिक युद्ध में कर्मों के आक्रमण-प्रत्याक्रमण आत्म शक्तियों को गंभीर चुनौती देते हैं। यद्यपि सतत जागरूकता के बावजूद कई बार कठिनाइयों से उसमें व्यग्रता और आकुलता भी उत्पन्न हो जाती है। तथापि आत्म-विश्वास और साहस के बल पर गुणस्थानों का एक-एक सोपान चढ़ती हुई वह रणभूमि में डट जाती है। भावना एवं साधना की दृढ़ता तथा उत्कृष्टता तब उस आत्मा को गुणस्थानों की उच्चतर श्रेणियों में चढ़ाती रहती है, जिसके अन्तिम परिणामस्वरूप उसे कर्म-शत्रुओं पर विजय की आनन्दानुभूति होती है। वह अरिहंत बन जाती है।

समझ कर आगे बढ़ें

आत्म विश्वास की क्रमिक अवस्थाओं-गुणस्थानों को जो भलीभाँति समझ लेता है, वही आध्यात्मिक समर के मर्म को समझता जाता है। आत्मिक शक्तियों में आविर्भाव की, उनके शुद्ध कार्य रूप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्थाएँ ही “गुणस्थान” हैं। आत्मा की विकास यात्रा के सारे पड़ाव अविकास से विकास की ओर चौदह गुणस्थानों में देखे जा सकते हैं तथा प्रतिपल गुणस्थान कौनसा है इसका मूल्यांकन किया जा सकता है।

आत्म-विकास के सोपान गुणस्थानों का यह सिद्धान्त इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है तथा जो सद्बिवेक एवं सद्प्रवृत्ति के साथ नीचे से ऊपर के सोपानों पर अपने चरण बढ़ाते रहते हैं, वे अन्ततोगत्वा अपने जीवन के चरम लक्ष्य को अवश्य उपलब्ध कर लेते हैं। □